**'स्त्री-काल' में प्रकाशनार्थ :**

# अब तेजी से टिक-टिक कर रही है सेक्शुअल परिवर्तन की घड़ी

**अभय कुमार दुबे**

विख्यात मनोशास्त्री सुधीर कक्कड़ ने अस्सी के दशक में अपनी बहुचर्चित रचना 'अंतरंगता का स्वप्न' में लिखा था कि भारतीय समाज में सेक्शुअल परिवर्तन की घड़ी बेहद धीमी रफ़्तार से टिक-टिक करती है। यह कहते हुए कक्कड़ का इशारा कई बातों की तरफ था, पर उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण थी भारतीय सामाजिक जीवन में परिवार की प्रबल केंद्रीयता। सेक्शुअल गतिविधियों के केवल दो ही दायरे थे। अपने मान्यता प्राप्त वैध रूप में वे या तो परम्परा व कानून द्वारा विनियमित घर के शयन-कक्ष के एकांत में सम्पन्न होती थीं, या फिर उनका दायरा वेश्यालय या चकलाघर की अवैध ज़मीन पर टिका हुआ था। सेक्शुअल गतिविधियों के अन्य रूप भी थे, जैसे इंसेस्ट या कौटुम्बिक व्यभिचार या विवाहेतर यौन-संबंध। लेकिन उन पर गोपनीयता का धुँधलका छाया रहता था, जिसके कारण उन पर होने वाली बहस केवल सेक्शुअलिटी के अनुसंधाकर्त्ताओं के बीच ही सीमित रह जाती थी। ऐसा लगता है कि सुधीर कक्कड़ के इस गहन प्रेक्षण के तीन दशक बाद शायद अब इस घड़ी की सुइयाँ कुछ तेज़ी चलने लगी हैं। समाज की सेक्शुअल गतिशीलता में हुई इस अवलोकित वृद्धि को कम से कम तीन मुकामों पर रेखांकित किया जा सकता है।

पहला मुकाम है परिवार की परम्परागत संरचना के समांतर सह-जीवन या लिव-इन रिलेशनशिप नामक एक नई संरचना का उभार; दूसरा है सेक्स और दोस्ती की निरंतर परवान चढ़ती हुई सोशल इंजीनियरिंग; और तीसरा मुकाम है वेश्या को सेक्स-वर्कर की मान्यता दिलाने का बढ़ता हुआ राजनीतिक-कानूनी आंदोलन। आपस में जुड़े हुए परिवर्तन के इन तीनों उल्लेखनीय स्पेसों में चार बातें समान हैं। पहली, इनमें स्त्री का पत्नी-रूप अनुपस्थित है; दूसरी, स्त्री के सेक्स पार्टनर के रूप में पुरुष इन तीनों मुकामों पर कानून और अदालत द्वारा विनियमित और नियंत्रित किया जा रहा है; तीसरी, भारतीय नारीवाद के संगठित रूपों की परिवर्तन की इन तीनों धाराओं के साथ किसी न किसी रूप में अन्योन्यक्रिया चल रही है; और चौथी, अदालतें, मीडिया के विभिन्न रूप और भारतीय राज्य की संस्थाएँ भी परिवर्तन की इस प्रक्रिया में सक्रिय हिस्सेदारी कर रही हैं। इन चार मुश्तरका बातों से लगता है कि बदलाव की रफ्तार और बढ़ने की संभावनाएँ मुखर हैं।

**सह-जीवन का सांस्कृतिक मुहावरा**

सह-जीवन पर आधारित परिवार का नया रूप पश्चिमी समाजों में द्वितीय विश्व युद्ध के करीब चालीस-पचास साल बाद उभरा था। इस समय स्थिति यह है कि अमेरिका में करीब ४५ लाख जोड़े सह-जीवन में जिंदगी गुजार रहे हैं। यह संख्या सन् १९६० की स्थिति से एक हज़ार प्रतिशत ज्यादा है। सन् २००० का एक अध्ययन बताता है कि इस देश में करीब आधे नव-विवाहित ऐसे हैं जो पारंपरिक बंधनों में बँधने से पहले सह-जीवन के रिश्तों में रह कर एक-दूसरे को अच्छी-तरह समझ-बूझ रहे थे। वेस्टर्न वाशिंगटन यूनिवर्सिटी में जे. टीचमेन द्वारा तीन हज़ार जोड़ों पर किए गए एक अध्ययन के अनुसार सह-जीवन में रहने और विवाह से पूर्व संभोग कर लेने वाली जिन स्त्रियों ने अपने उसी पार्टनर के साथ आगे चल कर विवाह किया उनके जीवन में तलाक की नौबत का प्रतिशत किसी भी तरह से उन स्त्रियों से ज्यादा नहीं था जिन्होंने पारंपरिक विवाह से ही अपने यौन जीवन की शुरुआत की थी। डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन की स्थिति यह है कि वहाँ पचास फीसदी के आस-पास नई संतानें सह-जीवन के तहत ही पैदा हो रही हैं। कनाडा में १६ प्रतिशत, मैक्सिको में १८ प्रतिशत, ब्रिटेन में २५ प्रतिशत, फ्रांस में १७.५ प्रतिशत, फिनलैंड में २१ प्रतिशत जोड़े सह-जीवन के तहत जीवनयापन कर रहे हैं। एशियाई देशों ने अभी तक परिवार के इस नए रूप को अपनाने की तरफ शुरुआती कदम ही उठाए हैं। भारत और जापान में इसकी सुगबुगाहट दिखाई देने लगी है। पता चला है कि फिलीपींस जैसे देश में कोई २४ लाख लोग सह-जीवन अपना चुके हैं। ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड जैसे गैर-यूरोपीय लेकिन गोरी आबादी बाले देशों में सह-जीवन का प्रतिशत क्रमश: २२ और १८.५ प्रतिशत है।

अन्य एशियायी देशों के मुकाबिले भारत में सह-जीवन की संरचनाओं के विकास की ज्यादा मुखर संभावनाएँ हैं। भारत को परंपरानिष्ठ देश समझ कर सह-जीवन के खिलाफ मानने वाले लोगों को यह जान कर थोड़ा ताज्जुब होगा कि भारतीय समाज ने आधुनिकता के आर्थिक और राजनीतिक रूपों के मामले में काफी रैडिकल शैली में गैर-पारम्परिक रवैया अख्त्यिार करके सारी दुनिया के सामने एक मिसाल पेश की है। बिना किसी क्रांतिकारी उथल-पुथल से गुजरे अर्थव्यवस्था और राजनीति के मामले में भारत ने विदेशी मॉडल को सफलतापूर्वक अपनाया है। सह-जीवन के भारतीय अध्याय की आलोचना करने वाले यह देखने के लिए तैयार नहीं है कि परिवार का यह रूप आर्थिक प्रगति की हवाओं पर सवार हो कर हमारी ज़मीन पर आया है। परम्परा और शास्त्र अपनी जगह मौजूद हैं और रहेंगे, लेकिन ऐसा लगता है कि सह-जीवन के रूप उन्हें चुनौती दिए बिना विकसित होते रहेंगे। पहली बात तो यह है कि सह-जीवन के कल्ले जिस दायरे में फूट रहे हैं, वहाँ परंपरा और शास्त्र भारतीय समाज के अन्य स्पेसों की तरह प्रभावी नहीं हैं। सूचना प्रौद्योगिकी (बीपीओ यानी काल सेंटर आदि) और मनोरंजन उद्योग (फैशन, फिल्म, टीवी और म्यूजिक इंडस्ट्री) के जबरदस्त विस्तार और शानदार सफलताओं ने इस दायरे में सह-जीवन को निजी ज़िंदगी के एक नए सांस्कृतिक मुहावरे में पेश कर दिया है। इन उद्योगों ने काम करने की अवधियों में एक ऐसा उलट-फेर किया है जिसके कारण मध्यवर्गीय नैतिकताएँ स्वयं को एक नए दिक और काल में पा रही हैं। इन उद्योगों में सक्रिय स्त्रियाँ रात की पाली में काम करती हैं, जबकि उद्योगीकरण के पहले और दूसरे चरण में आम तौर पर रात सोने के लिए होती थी और दिन फैक्ट्री में परिश्रम करने के लिए होता था। पुरुष कर्मचारियों का एक हिस्सा रात में काम करता था, पर उनकी संख्या भी सीमित ही थी। उद्योगीकरण कम से कम डेढ़ सौ साल तक स्त्रियों से रात में काम करवाने का साहस नहीं जुटा पाया। लेकिन, उद्योगीकरण का तीसरा यानी वर्तमान चरण शुरू से ही स्त्रियों को एक ऐसी उत्पादक शक्ति के रूप में देखता है जिनके लिए करियर के सामने दिन और रात की अंतर कुछ नहीं होगा।

जिन लोगों ने मधुर भंडारकर की सफल फिल्म 'फैशन' देखी है, उन्हें शायद इस फिल्म की नायिकाओं के निजी जीवन ने कुछ सोच में डाल दिया होगा। इस फिल्म में एक नहीं, बल्कि तीन-तीन हीरोइनें हैं। मॉडलिंग के पेशे को करियर बनाने वाली ये युवतियाँ परंपरागत विवाह के अलावा फिल्म में सब कुछ करती दिखाई गई हैं। यहाँ तक कि उनकी जुबान पर शादी जैसा शदद तक नहीं आता। वे प्रेम करती हैं, संभोग करती हैं, लिव-इन रिलेशनशिप में रहती हैं, गर्भवती होती हैं, गर्भपात करवाती हैं, लड़ती-झगड़ती हैं, घरेलू हिंसा के दौर से गुजरती हैं, उनके संबंध टूटते-बनते हैं और नए रिश्ते बनाने की प्रक्रिया में उनकी पेशागत कामयाबियों के आग्रह भी अहम भूमिका निभाते हैं : यानी जिंदगी के हर मुकाम से गुजरते हुए भी वे परम्परागत विवाह से कोसों दूर रहती हैं। इन तीनों में से एक नायिका तकनीकी रूप से शादी जरूर करती है, पर उसके पीछे भी उसका मकसद पति के आवरण में एक ऐसे दोस्त को पाना है जो समलैंगिक होने के नाते उसे सेक्शुअल निगाह से नहीं देखता। यह एक पुरुष समलैंगिक का स्त्री इतरलैंगिक से विवाह है जिसमें दोनों पक्ष अपनी-अपनी सेक्शुअलिटी को लेकर स्पष्ट हैं। कुल मिला कर यह भी एक खास तरह की लिव-इन रिलेशनशिप है जिस पर परस्पर समझौते के तहत शादी का ठप्पा भर लगा है। अर्थात अपनी तीन हीरोइनों के जरिए फिल्मकार जाने-अनजाने स्त्री-पुरुष के सह-जीवन की तीन भारतीय किस्मों का दिलचस्प आख्यान पेश कर रहा है।

ध्यान देने लायक बात यह है कि सह-जीवन का यह आख्यान स्त्री के सुख-दुख की निगाह से रचा गया है। सह-जीवन के उदाहरण को लेकर बनी यह हिंदी की पहली फिल्म नहीं है। इससे पहले 'सलाम नमस्ते' नामक फिल्म की केंद्रीय विषयवस्तु यही रह चुकी है। लेकिन सैफ़ अली खान और प्रीति जिंटा अभिनीत इस फिल्म की सारी घटनाएँ पश्चिम की जमीन पर घटती दिखाई गई थीं। इस लिहाज से 'फैशन' पहली फिल्म है जिसमें भारतीय जमीन पर सह-जीवन निजी जिंदगी के प्रमुख रूप की तरह चित्रित किया गया है। एक खास बात यह भी है कि फिल्मकार का मुख्य उद्देश्य सह-जीवन की वकालत करना नहीं है। वह कहीं भी सह-जीवन को एक आदर्श संबंध के रूप में चित्रित नहीं करता। न ही विवाह और सह-जीवन के बीच फिल्म के पात्र और उनकी जीवन-स्थितियाँ कोई बहस करती हैं। पारंपरिक विवाह से भिन्न सह-जीवन के रिश्ते इस फिल्म के पात्रों के लिए स्वाभाविक मान लिए गए हैं, क्योंकि वे एक खास तरह के पेशे में हैं। मॉडलिंग का पेशा भारतीय समाज के लिए एक उत्तर-आधुनिक पेशा है जो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया शुरू होने के बाद मध्यवर्ग के बीच लोकप्रिय हुआ है। एक नया पेशा बेआवाज संवाद के जरिए कह रहा है कि परिवार का एक नया रूप ही उसके अनुकूल साबित होगा। 'फैशन' की मुख्य हीरोइन सह-जीवन का पहला संबंध टूटने के बाद भावनात्मक रूप से आहत होती है, पर उसकी जिंदगी पटरी से नहीं उतरती। थोड़े दिनों के बाद वह अपने व्यावसायिक दायरों में दूसरा संबंध तलाश लेती है। उसकी जिंदगी का सामान्य क्रम पुरुष के साथ संबंधों के लेकर आई निराशाओं के कारण नहीं, बल्कि अपनी व्यवसायगत विफलताओं के कारण भंग होता है। परिवार के नए रूप की खामोश वकालत

करने वाली यह फिल्म बिना कुछ कहे इशारा कर रही है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने हमारे महानगरीय जीवन में ऐसे कई नए पेशों को जन्म दिया है जो परिवार के पुराने रूप के अनुकूल नहीं हैं। खासकर अगर स्त्रियाँ उन पेशों को अपनाना चाहेंगी तो उन्हें परिवार के नए रूपों की तरफ जाना ही होगा। लिव-इन रिलेशनशिप या सह-जीवन या कोहेबिशन एक ऐसा ही बना-बनाया रूप है जो चाहे-अनचाहे निजी जीवन की प्रयोगधर्मिता के केंद्र में आता जा रहा है।

'फैशन' एक हिट फिल्म है, और लीक से हट कर निजी जिंदगी गुजारने वाली उसकी नायिकाओं के खिलाफ किसी किस्म की शुद्धताबाजी नारेबाजी भी नहीं सुनाई दी। यह माना जा सकता है कि इन नायिकाओं ने दर्शकों की हमदर्दी जीतने में कामयाबी हासिल कर ली है। तो क्या यह मान लिया जाना चाहिए कि हकीकत की जमीन पर हमारे समाज में एक ऐसा कोना तैयार हो रहा है जो सह-जीवन का कोना है? एक ऐसा कोना जिसमें न सात फेरे हैं, न आर्य समाज की हवनछाप शादियाँ हैं, न ही निकाह है, न चर्च के समारोह हैं और न ही शादी के अदालती रजिस्टर में किए जाने वाले दस्तखत हैं। पिछले एक साल से कानून और राजनीति के धरातल पर चल रही चर्चाओं पर अगर निगाह डाली जाए तो उनकी रोशनी में हमारे समाज का यह कोना थोड़ा और उभर कर उजाले में आ जाता है। घरेलू हिंसा के खिलाफ बने कानून में कुछ ऐसी गुंजाइशें हैं जिनके जरिए सह-जीवन में रह रही स्त्री को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने के प्रावधान किए गए हैं। इसके अलावा हाल ही में न्यायमूर्ति मालीनाथ कमेटी ने विधि आयोग को जो सिफारिशें भेजी हैं उन्हें अगर मान लिया गया तो एक खास अवधि तक सह-जीवन में रह चुकी स्त्री को पत्नी जैसे अधिकार ही मिल जाएँगे। सह-जीवन से पैदा हुई संतानों को पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार देने का प्रस्ताव भी विचाराधीन है। महाराष्ट्र सरकार की मंत्रिपरिषद ने भी सह-जीवन को विनियमित करने के पक्ष में एक प्रस्ताव पारित करके केंद्र सरकार को भेजा है। अगर हमारे कानून ने निजी जीवन में उभर रहे इस नए कोने को किसी न किसी प्रकार की मान्यता दे दी, तो यह भारतीय समाज के लिए एक बेहद दूरगामी नतीजों वाला परिवर्तन होगा।

मैं ऐसी कई लड़कियों को जानता हूँ जो काल सेंटरों में काम करती हैं। चूँकि वे नौकरी छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं इसलिए लड़का दिखाई के जरिए उनके लिए दूल्हे नहीं मिल पा रहे हैं। आजकल लड़का दिखाई का कर्मकांड मॉल्स और फूड कोर्टों में होता है। जैसे ही लड़के के घरवालों को पता चलता है कि उनकी बहू रात में ड्यूटी करने जाती है, वैसे ही वे बिदक जाते हैं। शर्त रखी जाती है कि लड़की को अपना जॉब चेंज करना होगा, या नौकरी छोड़नी होगी। ज्यादातर लड़कियाँ यह शर्त मानने के लिए तैयार नहीं होतीं जिसके कारण उनके सामने अंतत: अपने ही पेशे से संबंधित साथी चुनने का विकल्प रह जाता है। बीपीओ इंडस्ट्री विशेष तौर से सह-जीवन को बढ़ावा देने वाला उद्योग साबित हो रहा है। कहना न होगा कि बीपीओ इंडस्ट्री में काम करने के लिए हमारे शहरी और अर्धशहरी ग्रामीण परिवारों के मध्यवर्गीय युवक-युवतियाँ ही जाते हैं। काल सेंटर की हवाओं में उनकी मध्यवर्गीय वर्जनाएँ बहुत जल्दी ही उड़ कर उनकी जिंदगी से कहीं दूर चली जाती हैं। वे नए किस्म के अपरिभाषित रिश्तों में दुस्साहसपूर्वक उतरने के लिए तैयार हो जाते हैं।

सह-जीवन को परिवार की संस्था के आर्थिक और औद्योगिक संस्करण के रूप में भी देखा जा सकता है। इसीलिए यह परिवार का सर्वाधिक सेकुलर रूप है। इसमें धर्म और जाति का कोई हस्तक्षेप नहीं हो सकता। चूँकि धर्म और दिन-रात का विभाजन इस परिवार की बुनियाद में नहीं है इसलिए इसके तहत पत्नी के रूप में स्त्री को, पति के रूप में पुरुष को और घर के दायरे में घरेलूपन को नए सिरे से परिभाषित करने की संभावनाएँ हैं। एक बार इस नए परिवार की संरचना को मामूली सा कानूनी जामा भी मिल गया तो समझ लीजिए कि पारंपरिक परिवार भी इन नई परिभाषाओं से अछूता नहीं रह सकेगा।

**सेक्स और दोस्ती की सोशल इंजीनियरिंग**

स्त्री और पुरुष की दोस्ती के बीच हमेशा एक स्लिपेज रहता है। बहुत सी दोस्तियाँ धीरे-धीरे या अचानक किसी खास क्षण के अधीन होकर यौन संबंधों में बदल जाती हैं। उस समय हम उन्हें दोस्ती कहने से परहेज करने लगते हैं। ऐसे संबंधों के लिए या तो सिर्फ प्रेम शत्द का इस्तेमाल होता है, या फिर विवाहित प्रेम या लिव-इन-रिलेशनशिप का। आधुनिक जीवन के मौजूदा दौर ने दोस्ती और प्रेम के इन समीकरणों का रूपांतरण करने की ठान ली है। रिश्तों की नयी-नयी किस्में सामने आ रही हैं जिनमें दोस्ती के पहलू तो हैं ही, प्रेम के आयाम भी हैं और सबसे ऊपर इन दोनों पर हावी होता हुआ यौन-आनंद का आग्रह है। दिल्ली में अंग्रेजी के दो सबसे ज्यादा बिकने वाले दैनिक अख़बारों पर एक नजर डालते ही सेक्स और प्रेम की इस सोशल इंजीनियरिंग के प्रमाण सामने आ जाते हैं। एक अखबार हर बुधवार को डेटिंग के ढेर सारे (तकरीबन आधे पेज के) विज्ञापन छापता है। यह

डेटिंग आधुनिक अंग्रेजी पढ़े-लिखे अविवाहित और शहरी युवक-युवतियों के बीच होने वाली निर्दोष किस्म की प्रणय-लीला नहीं है। इन विज्ञापनों में ३५ से ५० साल के लोग घोषित करते हैं कि वे विवाहित हैं, पाँच से दस लाख रुपये प्रति वर्ष कमाते हैं, सुंदर हैं, स्वस्थ हैं, पर असंतुष्ट हैं। उन्हें मन का साथी नहीं मिला। अब उन्हें 'ब्रॉड-माइंडिड' साथी चाहिए जिससे वे अल्पावधि के लिए संबंध बनाने के लिए तैयार हैं। यह सिलसिला केवल यहीं तक नहीं रुकता। इन विज्ञापनों में कई विवाहित जोड़े भी अपने जैसे ही किसी विवाहित जोड़े का सानिध्य पाने के लिए अपील करते नजर आते हैं। यानी पति-पत्नी थोड़े समय के लिए म्युचुअल एक्सचेंज की प्रक्रिया से गुजरने के लिए बेताब हैं।

दूसरे अखबार ने तो बाकायदा फ्रेंडशिप की सेल ही लगा दी है। उसमें विज्ञापन छपते हैं कि मन की दोस्ती न मिलने पर पैसे वापस करने की गारंटी है। और तो और जिस कंपनी का विज्ञापन होता है, वह दो लाख का बीमा करने का प्रलोभन भी देती है। इसी तरह एम टीवी और वी चैनल पर नियमित रूप से एक विज्ञापन ऐसा भी आता है जो हर हफ्ते खास तरह की पार्टियों के निमंत्रण दिलवाने की गारंटी करता है। पार्टियों कैसी चाहिए, यह ग्राहक की पसंद पर निर्भर है। गे पार्टी (पुरूष-समलैंगिकों की), लेस्बियन पार्टी (स्त्री-समलैंगिकों की) या हेटरोसेक्सुअल पार्टी (इतरलिंगी लोगों की) चाहिए; सब कुछ फर्माइश पर उपलत्थ है। आधुनिक जीवन ने सेक्स और दोस्ती की सेल लगा दी है। सेक्स और दोस्ती के बीच का फर्क बहुत धुँधला हो गया है।

यह मानना गलत होगा कि यह कोई बहुत छोटे पैमाने पर केवल अमीर लोगों के बीच ही हो रहा है। मध्य वर्ग में भी ये प्रवृत्तियाँ पनपती जा रही हैं। जो बड़े अखबार में विज्ञापन देने के पैसे नहीं खर्च कर सकते, वे एक साइबर कैफे में जा कर सिर्फ घंटे भर की सर्फिंग का मामूली खर्चा करके उन चैट रूमों में अपने संभावित सेक्स-पार्टनरों से बातचीत कर सकते हैं जो इन्हीं अखबारों की वैबसाइटों ने खोल रखे हैं। पुरुषों के चैट रूम अलग हैं, महिलाओं के अलग और विवाहित जोड़ो के अलग। वेब चैटिंग में ही तय हो जाता है कि यौन संबंध की प्रकृति क्या होगी। यौन क्रिया की पसंदीदा या गैर-पसंदीदा विधियों का आपसी खुलासा भी वहीं हो जाता है, ताकि बाद में एक्शन के समय आनंद में खलल न पड़े।

जाहिर है कि यह वैश्यावृत्ति जैसा कोई प्रकरण नहीं है, क्योंकि पैसा लेने वाला पक्ष तीसरा है जो इच्छुक पक्षों की मुलाकात सुलभ कराता है। वह बाकायदा विज्ञापन शुल्क का बिल और भुगतान की रसीद देता है। न ही इसे पारम्परिक व्यभिचार कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें सामंती सत्ता-संबंधों की भूमिका नहीं है। इसमें किसी किस्म की जोर-जबरदस्ती के बजाए परस्पर सहमति दोतरफा कामना का बोलबाला है। यह व्यापार इतरलिंगी और समलिंगी, दोनों क्षेत्रों में जमकर किया जा रहा है। इसमें अत्यंत सम्मानित मीडिया की नेतृत्वकारी संस्थाएँ शामिल हैं और इस मीडिया के अस्तित्व पर राष्ट्रीय सरकार की मुहर है।
सेक्स और दोस्ती की सोशल इंजीनियरिंग में शामिल लोग दरअसल कौन हैं ? समाज-मनोविद आशीष नंदी की मान्यता है कि यह एक फ्लोटिंग पापुलेशन है जो बाजार और उपभोक्त समाज के विकास से निकली है। यह पारंपरिक नैतिक मूल्यों के बोझ से दबी हुई नहीं है। इसे निजी जीवन में प्रयोगधर्मी होने पर कोई आपत्ति नहीं दिखायी पड़ती। निश्चित रूप से इसे समाज में जारी भारतीय यौन-क्रांति का एक वैध वहलू कहा जा सकता है। यह पहलू लगातार विकसित ही नहीं हो रहा है, बल्कि इसे विकसित करने की योजनाबद्ध कोशिशें भी चल रही हैं।

हालाँकि हमारी कम्युनिस्ट पार्टियों को इस तरह के मामलों में कोई रुचि नहीं होती और वे इसे मुँह बिचका कर देखती हैं, पर इस परिघटना की एक मार्क्सवादी व्याख्या भी है। जेफरी वीक्स और डिइमिलियो जैसे मार्क्सवादी विद्वानों ने कहा है कि पूँजीवादी विकास के एक खास चरण में ऐसा ही होता है। पूँजीवाद समुदाय को व्यक्तिवाद के ज़रिये तोड़ता है, परिवार स्वतंत्र आर्थिक इकाई नहीं रह जाता, यौनानंद प्रजनन की अपरिहार्यता से जुड़ा नहीं रह जाता और इतरलिंगी यौन-संबंध ही कामना के स्रोत नहीं रह जाते। लेकिन, साथ में पूँजीवाद को श्रम करने के लिए हाथों की ज़रूरत भी होती है इसलिए वह इतरलैंगिक परिवार की जरूरत भी महसूस करता है। इसी अंतर्विरोधी कारण से पूँजीवाद समाज में यौन क्रांति भी होती है और उसके मुकाबले दक्षिणपंथी पवित्रतावाद की प्रतिक्रिया भी होती रहती है। भारत में इस यौन क्रांति को प्रोत्साहित करने वाले सत्ता प्रतिष्ठानों और समाचार माध्यम भी इन दोनों नावों में एक साथ सफर कर रहे हैं।

**वेश्या या सेक्स-वर्कर?**

पिछले दो दशकों के भारतीय समाज में कितना बदलाव आया है, अगर इसका अंदाजा लगाना हो तो वेश्या और समाज के रिश्ते में आई तत्त्दीलियों पर एक निगाह डालनी चाहिए। वेश्या जो अनिवार्यत: असामाजिक तत्त्व समझी जाती थी, आज विभिन्न सामाजिक शक्तियों द्वारा हमदर्दी की नजर से देखी जा रही है। उसके पास अपनी कहानी है जिसे वह किसी कलाकार, साहित्यकार या समाज सुधारक की मध्यस्थता के बिना अपने शत्दों में सुना रही है और जमाना पहली बार ध्यान से सुन रहा है। चाहे वह केरल में अपनी देह बेच कर जीविका कमाने वाली नलिनी जमीला हो, या फिर सोनागाछी की वेश्याएँ हों, पाठकों और श्राताओं के बीच उनकी उपस्थिति एक ऐसे अंतर्वासी के तौर पर दर्ज होने लगी है जिसे समाज के भीतरी दायरों में अभी-अभी ही प्रवेश मिला है। संसद के गलियारों में कार्यरत विधिकर्त्ता इस उधेड़बुन में हैं कि अनैतिक व्यापार पर प्रतिबंध लगाने वाले कानून को कैसे वेश्याओं के लिए कम से कम दिक्कत तलब बनाया जाए। नारीवाद का झंडा उठाने वाली भद्र राजनीतिक महिलाओं ने वेश्या को अपनी नेक लड़की वाली छवि के आईने में देखना बंद कर दिया है। यह ज़रूर है कि जेंटलमेनों की दुनिया में रहने वाली इन लेडियों के मंच पर वेश्या को एक मुक्तिकामी नारी के रूप में पेश किए जाने की घड़ी फिलहाल कोसों दूर है, पर इतना परिवर्तन तो आ ही गया है कि वे वेश्या को समाज के मित्र के रूप में देखने की पेशकश पर गौर करने लगी हैं।

करीब पाँच पहले एक सम्मानित टीवी न्यूज़ चैनल पर कोलकाता से आई सपना नामक वेश्या ने पूरे विश्वास के साथ यह कह कर खासी हलचल मचा दी थी कि वह सेक्स-वर्कर है और रोजी-रोटी कमाने के अपने ज़रिए को कई तरह के सामान्य कामों में ही गिनती है। पुराने किस्म के नारीवाद की एक प्रवक्ता और सवाल पूछने के लिए जमा किए गए लोग उससे जिरह करते रहे, पर वह अपने रवैये से नहीं डिगी। वह चाहती थी कि उसे वेश्या न समझ कर यौन-कर्मी समझा जाए, यानी उसे मजदूर वर्ग के एक सदस्य के रूप में सम्मानित दर्जा दिया जाए। जिस तरह लोग अपना श्रम बेचते हैं, उस तरह वह अपनी देह बेचती है। यह कोई छोटी-मोटी जिद नहीं थी। यह पिछले दो सौ साल से जमे हुए मार्क्सवादी विचार को चुनौती देने वाली जिद थी, जिसके तहत पूरे समाज को क्रांति का सपना दिखाने वाली जमातें वेश्या को लंपट-सर्वहारा से ज्यादा बड़ा दर्जा देने के लिए तैयार नहीं हैं। इस आग्रह के मुताबिक वेश्या के साथ एक शोषित के रूप में हमदर्दी तो दिखाई जा सकती है, पर वह अपने आप में किसी मुक्तिकारी एजेंसी की भूमिका में नहीं आ सकती। कोलकाता की सपना वेश्याओं के उस आंदोलन की प्रवक्ता थी जिसके संगठित प्रयासों ने पिछले डेढ़ दशक में सोनागाछी की वेश्याओं को इंसान की हैसियत दिलाने की तरफ कई दृढ़तापूर्ण कदम बढ़ाए हैं।

यह सिर्फ संयोग ही नहीं था कि उधर सपना ने टीवी चैनल पर अपनी दावेदारी की, और इधर छ: महीने से भी कम समय में देश के एक बड़े समाचारपत्र समूह ने देह बेचने के धंधे को कानूनी दर्जा दिए जाने के पक्ष में बड़ी आवेगपूर्ण मुहिम छेड़ दी। इसके पक्ष-विपक्ष में बेचैन प्रतिक्रियाओं की बाढ़ आ गई। इस मुहिम का समर्थन या विरोध करने से कतराने वाले बहुसंख्या में थे, पर उनकी समझ में इतना तो आ ही रहा था कि वेश्या नामक निर्मित की अंतर्वस्तु बदल रही है। वह अब पतिता के रूप में देखे जाने के लिए अभिशप्त नहीं है, क्योंकि पतिता उद्धार सभाओं ने सदियों तक सक्रिय रह कर भी उसका कोई भला नहीं कर पाया है। सेक्स वर्कर होने के दावे और देह के धंधे को कानूनी दर्जा दिए जाने की पृष्ठभूमि में उन तमाम नैतिकतावादी प्रयासों की सतत विफलता देखना कठिन नहीं था जो वेश्यावृत्ति से जुड़े उन्मूलनवादी नजरिए को अभी तक पालते-पोसते रहे हैं। खास बात यह है कि उन्मूलनवादी नैतिकता के साथ दक्षिणपंथी ही नहीं, बल्कि मार्क्सवादी और नारीवादी लोग भी जुड़े रहे हैं।

लेकिन, अगर एक वेश्या द्वारा किए गए यौन-कर्मी होने के दावे और उस समाचार पत्र समूह की मुहिम के बीच कोई संयोगमूलक संगति नहीं थी तो फिर क्या था? इस सावल का पहला जवाब तो यह है कि टीवी चैनल हो, या प्रिंट मीडिया या राजनीति का मैदान या फिर संसद का दायरा, इन तमाम जगहों पर कोई प्रश्न तभी उठाया जाता है जब उसके इर्द-गिर्द एक लोकप्रिय सहमति बनने की संभावना स्पष्ट रूप से मौजूद हो। लोक-मानस बनाने वाले इन तमाम मंचों पर ऐसा कोई भी सवाल उठाने से परहेज किया जाता है जिसके कारण दर्शकों, पाठकों या वोटरों की संख्या कम होने का अंदेशा हो। जन-संचार माध्यमों और राजनीति के क्षेत्र को यह एहसास हो गया है कि भारतीय समाज आधुनिकीकरण के एक ऐसे खास दौर में पहुँच गया है जिसमें अंतरंग रिश्तों का संसार विक्टोरियायुगीन वर्जनाओं की बुनियाद पर टिका नहीं रह सकता। यह एक ऐसा दौर है जिसमें भद्र समझा जाने वाला मीडिया तकरीबन हर रोज सेक्स मेनुअल की किश्तें वैज्ञानिक अंदाज में पाठकों और श्रोताओं के लिए पेश कर रहा है। ध्यान रहे कि आचार्य वात्स्यायन का 'कामसूत्र' के नाम से मशहूर सेक्स मेनुअल केवल अभिजनों के लिए ही उपलत्ध था। आज यह

कामसूत्र मनोचिकित्सकीय भाषा और आयुर्विज्ञानी मुहावरे के साथ अपने अधुनातन रूपों में फुटपाथ पर आ चुका है। इसकी शुरूआत अंग्रेजी मीडिया से हुई थी जिसे अब हिंदी ने भी पूरे जोर-शोर से अपना लिया है।

**परिवर्तन : संकट और संभावना**

इस वार्ता में जिन परिवर्तनों को रेखांकित किया गया है, वे केवल संभावनाओं के ही स्रोत नहीं है। उनके भीतर भारतीय नारीवाद के लिए अनपेक्षित संकट भी निहित हैं। भारतीय नारीवाद ने अभी तक सह-जीवन और कानूनी वैधता के आपसी रिश्तों पर ठीक से बहस नहीं चलाई है। उसे सह-जीवन की धारणा समस्याग्रस्त नहीं लगती, पर जैसे ही उसे कानूनी रूप देने की तरफ कदम बढ़ता है, कुछ नारीवादी सिद्धांतकारों को लगने लगता है कि कहीं सह-जीवन भी वैवाहिक विनियमनों के ढाँचे में न फँस जाए। दूसरी तरफ उनकी मजबूरी यह है कि जैसे-जैसे सह-जीवन की संरचना प्रचलित होगी पुरुषों द्वारा उसके दुरुपयोग को नियंत्रित करने के लिए कानूनी हस्तक्षेप की ज़रूरत बढ़ती जाएगी। इसी तरह भारतीय नारीवाद डेटिंग क्लबों की परिघटना, इंटरनेट पर चलने वाले चैट रूमों और मुक्त इच्छा आधारित दोस्ती जैसी अवधारणाओं पर दिमाग खपाने के मूड में नहीं लग रहा है। यह भी हो सकता है कि नारीवादी सिद्धांतकार इस पक्ष में हों कि इस क्षेत्र को अभी प्रेक्षण और अवलोकन के लिए सुरक्षित रखा जाए। वैसे भी यह बहुत नया है। वेश्या और सेक्स-वर्कर बनाने के सवाल पर नारीवादियों में गहरी द्वैधवृत्ति पायी जाती है। उनके पास वेश्यावृत्ति की समस्या हल करने के लिए कोई ठोस सुझाव नहीं है, वे उन्मूलनवादी नज़रिए से भी पूरी तरह संतुष्ट नहीं हैं, पर वेश्या को मज़दूर की हैसियत देने के ख्याल से ही उनका प्रच्छन्न 'मार्क्सवादी मर्म' आहत हो जाता है। यह इस बात का सबूत है कि भारतीय नारीवाद पर मार्क्सवाद की छायाएँ कितनी गहरी और स्थायी किस्म की हैं। सेक्स-वर्कर की धारणा की ग़ैर-मार्क्सवादी आलोचनाएँ या तो परम्परा के मुकाम पर खड़े हो कर यौन नैतिकता के प्रचलित मानकों के हिसाब से की जाती हैं, या फिर 'स्त्रियों के लिए एक सुविधाजनक पेशे' के जन्म का डर दिखाया जाता है। इसके लिए कुछ पश्चिम के उदाहरण भी दिए जाते हैं। भारतीय यौन-क्रांति के कुछ अवैध पहलू भी हैं जो काल गर्ल सप्लाई करने के धंधे और मसाज पार्लरों में चलने वाले देह व्यापार के रूप में देखे जा सकते हैं। पुलिस बीच-बीच में छापा मार कर ऐसी गिरफ्तरियाँ करती रहती है।

जाहिर है कि इन आलोचनाओं को सौ फीसदी खारिज नहीं किया जा सकता। दिक्कत यह है कि ऐसी आलोचनाओं से समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं रुकती। खास तौर से ऐसी प्रक्रिया तो इन आलोचनाओं से धीमी भी नहीं होगी, क्योंकि आर्थिक उत्पादन के नए रूप उसे प्रोत्साहित कर रहे हैं। सेक्शुअल लिहाज से विक्टोरियायी यौन-नैतिकताओं का पड़ाव पार करके भारतीय समाज चल पड़ा है, लेकिन उसके कदम किस तरफ जाएँगे, यह अभी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता।